।। दंसण मूलो धम्मो।।

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

सम्पादक : रामजी माणेकचन्द दोशी वकील

वर्ष पाँचवाँ — अषाढ़
अंक तीसरा — २४७५

सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भी श्रेष्ठ है!

जो सम्यग्दृष्टि गृहस्थ है, वह मोक्षमार्ग में स्थित है, परन्तु मिथ्यादृष्टि मुनि, मोक्षमार्गी नहीं है; इसलिए मिथ्यादृष्टि मुनि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ठ है।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार)

एक अंक
चार आना

५१

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

अनेकान्त मुद्रणालय : मोटा आंकड़िया

प्रौढ़ गृहस्थों के लिए श्री जैनदर्शन शिक्षणवर्ग

गतवर्ष की भाँति इस वर्ष भी श्रावण शुक्ला २ (ता. २७-७-४९) बुधवार से श्रावण कृष्णा १२ (ता. २१-८-४९) रविवार तक सोनगढ़ में श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट की ओर से यथार्थ तत्त्वज्ञान के अभ्यास का प्रारम्भ करनेवाले भाइयों के लिए एक जैन शिक्षणवर्ग खोलने का निश्चय किया है। यह वर्ग मुख्यतया प्रौढ़ जैन भाइयों को लक्ष्य में लेकर खोला जा रहा है, अतः जो मुमुक्षुभाई वर्ग में आने के इच्छुक हों उन्हें अपना नाम ''श्री जैनस्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)'' के पते पर शीघ्र ही भेज देना चाहिए।

पूज्यश्री कानजी स्वामी का सोनगढ़ में आगमन

लाठी शहर में पंचकल्याणक महोत्सव पूर्ण करके स्वामीजी ने ज्येष्ठ शुक्ला ९ को वहाँ से बिहार किया और ज्येष्ठ शुक्ला १५ के दिन सोनगढ़ पधारे। सोनगढ़ के मुमुक्षु मण्डल ने अत्यन्त उल्लास और उत्सापूर्वक स्वामीजी का स्वागत किया था। पूज्य स्वामीजी सुख-शांति से सोनगढ़ में बिराजमान हैं। इस समय सवेरे व्याख्यान में श्री प्रवचनसार के ज्ञेयअधिकार की वचनिका होती है, और दोपहर को श्री समयसारजी के सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार पर प्रवचन होता है।

धन्यवाद!

रांची निवासी श्रीमान् रायबहादुर बा. हर्षचन्द जी पांडया की सुपुत्री का शुभ विवाह कोटा निवासी श्रीमान् सेठ पूनमचन्द जी बज के सुपुत्र श्री जम्बूकुमार के साथ हुआ। तदुपलक्ष में वर और कन्या दोनों पक्षों की ओर से कुल ३२०२/- रुपये का दान हुआ था। जिसमें से ११ आत्मधर्म को प्राप्त हुए।

श्री गैंदालालजी गंगवाल जयपुर की ओर से भी ५/- रुपये आत्मधर्म को प्राप्त हुए।

अषाढ़
२४७५

आत्मधर्म

वर्ष पाँचवाँ
अंक–३

तीर्थङ्करों के पथ पर

श्री तीर्थङ्कर भगवन्तों ने किस प्रकार कर्मक्षय किया और जगत् के जीवों को क्या करने का उपदेश दिया – यह बात श्री प्रवचनसार की ८०-८१-८२ वीं गाथाओं में गाथाओं में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने बतलायी है। और उन गाथाओं पर पूज्य श्री कानजीस्वामी द्वारा किये गये यह विस्तृत प्रवचन तीर्थङ्करों के मार्ग का स्वरूप स्पष्टरूप से दर्शाते हैं।

तीर्थङ्करों का पथ स्वाश्रय का है। तीर्थङ्करों के उपदेश में सम्पूर्ण स्वाश्रय का ही आदेश है। उन्होंने मोक्षमार्ग में अंशमात्र भी पराश्रयभाव का उपदेश नहीं किया। जो जीव स्वाश्रय नहीं करता, वह तीर्थङ्करों के उपदेश का आशय नहीं समझा। करणानुयोग हो, कथानानुयोग हो, चरणानुयोग हो अथवा द्रव्यानुयोग हो, किन्तु तीर्थङ्करों ने तो सर्वत्र स्वाश्रयभाव का ही मोक्षमार्ग के रूप में उपदेश किया है। तीर्थङ्करों ने स्वाश्रय द्वारा मुक्ति प्राप्त की है और स्वाश्रय को ही मोक्षमार्ग के रूप में दिव्यध्वनि में कहा है; इससे जो जीव स्वाश्रय की श्रद्धा–ज्ञान करता है, वही जीव तीर्थङ्करों के पथ पर है। जो जीव स्वाश्रय की श्रद्धा–ज्ञान नहीं करता और निमित्त-व्यवहार-कर्म-पुण्यादि के लक्ष्य से पराश्रय में धर्म मानता है, वह तीर्थङ्करों के पथ का नहीं है।

ऐसा श्री तीर्थङ्करों का पथ ज्ञानी बतलाते हैं है और जगत के जीवों को पुकारते हैं कि हे जगत् के जीवो! मोक्षमार्ग आत्माश्रित है। तुम परारश्रय को छोड़कर इस स्वाश्रित मार्ग में निःशङ्करूप से चले आओ! इसी मार्ग से तुम्हें मुक्ति मिलेगी, अन्य कोई मुक्ति का मार्ग नहीं है। श्री तीर्थङ्करदेवों ने इसी मार्ग से मुक्ति प्राप्त की है और जगत को इसी मार्ग का उपदेश दिया है।

''भगवान ने परजीवों को बचाया और उनकी सेवा करने का उपदेश दिया, भगवान ने स्याद्वाद से समस्त धर्मों का समन्वय किया, भगवान ने 'जियो और जीने दो' ऐसा कहा है, भगवन ने परजीवों की हिंसा को रोका, भगवान ने ऐसा कहा कि व्यवहार करते-करते धर्म होता है''–

इत्यादि अनेक प्रकार से पराश्रयता में धर्म माना जा रहा है और इस प्रकार भगवान के नाम पर इस समय मिथ्या मान्यताओं का जोर-शोर से प्रचार हो रहा है।

सभी तीर्थङ्करों ने क्या किया था और क्या कहा था? वह इस प्रवचन में श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य देव के कथानुसार बतलाया गया है। तीर्थङ्करों के यथार्थ मार्ग को बतलाने वाला यह व्याख्यान समाज के सभी आत्मार्थी जीव बराबर पढ़ें, मनन एवं मंथन करें और तीर्थङ्करों के पवित्र पंथ को यथार्थतया जानकर, विपरीत मार्ग से हटकर उसमें विचरण करें, तीर्थङ्कर देव के सच्चे अनुयायी बनें – ऐसी भावना है।

तीर्थङ्करों ने क्या किया और क्या कहा?

श्री प्रवचनसार की ८०-८१वीं गाथा में मोह का सर्वथा नाश करके सम्पूर्ण शुद्ध आत्मा की प्राप्ति का उपाय आचार्यदेव ने वर्णित किया। अब ८२वीं गाथा में समस्त तीर्थङ्करों को साक्षीरूप से लेकर आचार्यदेव कहते हैं कि जो उपाय यहाँ बतलाया है, वही उपाय समस्त तीर्थङ्करों ने स्वतः किया है और जगत के भव्य जीवों को ऐसा ही उपदेश किया है, उन्हें नमस्कार हो।

यह गाथा अत्यन्त उच्च है। पुरुषार्थ की उग्रता की इसमें बात है। अब, यही एक (पूर्वोक्त गाथाओं में जिसका वर्णन है वही) भगवन्तों ने स्वतः अनुभव करके दर्शाया हुआ निःश्रेयय का (मोक्ष का) पारमार्थिक पंथ है – इस प्रकार मति को व्यवस्थित करते हैं :–

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मं सा–
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं॥८२॥

अरहन्त सौ कर्मो तणे करी नाश अेज विधि वडे,
उपदेश पण अेमज करी, निर्वृतथया; नमुं तेमने॥८२॥

अर्थ :– समस्त अरिहन्त भगवान इसी विधि से कर्मांशों का (ज्ञानावरणादि कर्मभेदों का) क्षय करके तथा (अन्य सबको भी) इसी प्रकार उपदेश करके मोक्ष को प्राप्त हुए हैं; उन्हें नमस्कार हो!

इन ८०-८१ और ८२ गाथाओं में अनन्त तीर्थङ्करों की दिव्यध्वनि का अनन्त सन्त-मुनिओं का और सर्व परमागमशास्त्रों का आशय आ जाता है।

जो स्वाश्रय स्वभाव की प्रतीति करे, उसे पराश्रित भावों की प्रतीति दूर होकर क्षायिकसम्यक्दर्शन हो– ऐसा स्वभाव जिसने श्रद्धा-ज्ञान में लिया है, वह जीव समस्त तीर्थङ्करों के उपदेश के रहस्य को समझ गया है, वह जीव स्वतः तीर्थङ्करों के पंथ का है।

अनन्त तीर्थङ्करों ने ८०-८१वीं गाथा में प्ररूपित मार्ग का स्वतः अनुभवन करके कर्मों का क्षय किया और जगत के जीवों को उसी मार्ग का उपदेश करके वे मुक्ति को प्राप्त हुए। अरिहन्तों ने स्वतः जो किया, वह कहा है; जिस मार्ग से स्वतः पूर्ण सुख प्रगट किया, वही मार्ग जगत के जीवों को दर्शाया है। अरिहन्तों ने जो कहा है, वही निःश्रेयस का सच्चा मार्ग है। इस प्रकार निश्चित् करके आचार्यदेव अपनी मति को व्यवस्थित करते हैं; लाखों दुनियाँ उसे न माने और विरोध करे तो भी अपनी मति न बदले ऐसी अप्रतिहत श्रद्धा की बात है। मुझे मुक्ति के लिए किसी काल की अपेक्षा नहीं है, क्षेत्र की, महा-विदेह की अथवा भगवान की अपेक्षा नहीं है, मात्र मैं ही सबसे उदासीन होकर अपने द्रव्य-गुण में पर्याय को एकमेक करूँ– वही मेरी मुक्ति का परमार्थ साधन है।

जो अपने पूर्ण स्वभाव को पहचान कर उसमें लीन हुआ, उसे मुक्ति के वास्तविक साधन प्राप्त हो जाते हैं। त्रिकाल में यह एक ही मार्ग है, सभी तीर्थङ्करों ने इसी एक मार्ग का उपदेश दिया है। यहाँ पर आचार्यदेव को स्वाश्रित मोक्षमार्ग की महिमा आने से वे कहते हैं कि अहो! उन अरिहन्तों को नमस्कार हो और उनके बताये हुए मार्ग को नमस्कार हो।

अरिहन्त कहते हैं कि हमने अपने द्रव्यस्वभाव का आश्रय लेकर केवलज्ञान प्राप्त किया है, और हे जगत के जीवो! तुम भी अपने आत्मा का ही आश्रय करो। मुक्ति का मार्ग स्वाभावाश्रित है, इसलिए पुरुषार्थ द्वारा स्वभाव को जानकर उसी का आश्रय करो। इस प्रकार तीर्थङ्करों के उपदेश में तो पुरुषार्थ का आदेश है, किन्तु तीर्थङ्करों ने उपदेश में यह नहीं कह कि :– 'कर्म ढ़ीले होंगे या काललब्धि का विपाक होगा, तब मुक्ति होगी, या देव-गुरु के आश्रय से मुक्ति होगी, अथवा हमने केवलज्ञान में देखा होगा, तब तुम्हारी मुक्ति होगी – यह सब तो पराश्रय की बातें हैं। जैसा हमारा (अरिहन्तों का) आत्मस्वभाव है, वैसा ही तुम्हारा आत्मस्वभाव है, उसे जानकर उसी का आश्रय करो, देव-गुरु-शास्त्र का आश्रय छोड़ो, स्वाश्रय की प्रतीति करके उसमें एकता

करो, वही मुक्ति का उपाय है'–ऐसा सभी अरिहन्तों का उपदेश है। 'तेरी काललब्धि का विपाक होगा, तब मुक्ति होगी, पुरुषार्थ काम नहीं आयेगा'– ऐसी भगवान की वाणी नहीं है। तीर्थंङ्करों की दिव्यवाणी जगत के जीवों को मोक्ष-मार्ग के पुरुषार्थ में युक्त करने के लिए ही है, किन्तु मोक्षमार्ग के पुरुषार्थ से विमुख करने के लिए नहीं है।

पराश्रय से मुक्ति रुकती है

हे जीव! पूर्ण अवसर आ चुका है, तू पुरुषार्थ कर! तू हमारे जैसा ही है। जिस प्रकार हमारे किसी पर का आश्रय नहीं है, उसी प्रकार तेरे भी किसी का आश्रय नहीं है; हमारा भी आश्रय तुझे नहीं है। तू अपने स्वभाव का आश्रय ले तो तेरी मुक्ति के लिए काल का विपाक हो ही गया है। किन्तु अपना आश्रय नहीं करता, इसलिए तेरी मुक्ति रुक जाती है। काल कहीं तेरी मुक्ति को नहीं रोकता है।

स्वाश्रय के पुरुषार्थ से ही मुक्ति का काल पकता है।

'काल पके, तक मुक्ति होती है' यह वाक्य अज्ञानियों का है। क्योंकि काल का लक्ष्य पराश्रय है अथवा स्वाश्रय? पराश्रयभाव से कभी मुक्ति होती ही नहीं। 'काल पके तब' इसमें अपने स्वभाव का स्वीकार कहाँ आया? अपने स्वभाव को स्वीकार किये बिना मुक्ति कहाँ से होगी? जो स्वभाव को स्वीकार करता है, उसके लिए काल पक ही गया है, और जो स्वभाव को स्वीकार न करे उसके लिए काल नहीं पका है। स्वभाव का स्वीकार, सो स्वाश्रय का पुरुषार्थ है, और स्वाश्रय का पुरुषार्थ है, और स्वाश्रय से मुक्ति होती है। 'काल पके तब मुक्ति हो' इस मान्यता में तो काल के समक्ष देखना ही रहा, किन्तु स्वभाव का आश्रय करने के स्वतन्त्र पुरुषार्थ की बात नहीं आयी। मोक्षमार्ग पराधीन नहीं है, किन्तु वह स्वतन्त्र पुरुषार्थ के आधीन है। 'काल पके तब मुक्ति हो' इसमें पराश्रय है। पराश्रयभाव और मोक्षमार्ग – यह एक दूसरे के विरोधी हैं। स्वभाव का आश्रय छोड़कर काल पर लक्ष्य लगा, सो पराश्रय है, पराश्रय अधर्म है। इसलिए काल पके तब मुक्ति हो – यह दृष्टि मिथ्या है। अपने पूर्ण आत्मा की प्रतीति और उसमें स्थिरता, सो स्वाश्रयभाव है; उससे मुक्ति होती है। जो स्वाश्रय करे, उसे काल पक गया है – ऐसा कहा जाता है। जिसने स्वाश्रय के बदले पराश्रय से मुक्ति मानी है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है, वह अरहन्तों के उपदेश को नहीं समझा है, उसने अरहन्तों को नहीं पहचाना है।

निमित्त अथवा व्यवहारादि का आश्रय करने की आज्ञा भगवान की नहीं है।

पूर्वकथित मार्ग भगवान ने स्वतः ही अनुभव करके दर्शाया हुआ एकमात्र परमार्थ मार्ग है,

इसलिए इसके अतिरिक्त अन्य सभी मार्ग मिथ्या हैं – ऐसा उसमें आ जाता है। निमित्त मिलें तो जीव की मुक्ति हो, काल पके तो मुक्ति हो, निमित्त द्वारा हो, व्यवहार करते-करते हो, पुण्य करते-करते मुक्ति हो – यह सभी मान्यताएँ पराश्रयदृष्टिवालों की हैं; वह सर्वज्ञ भगवन्तों के श्रीमुख की आज्ञा नहीं है। सर्वज्ञभगवान ने वैसा किया नहीं है और न अपने ज्ञान में ही वैसा जाना है। जो कर्म का, कालका, निमित्त का अथवा रागादि का अबलम्बन मानते हैं, उनकी मुक्ति भगवान ने नहीं देखी है, किन्तु जो पराश्रयबुद्धि छोड़कर अपने शुद्ध आत्मस्वभाव का निर्णय करके स्वाश्रय से पुरुषार्थ करते हैं, वे ही जीव मुक्ति प्राप्त करते हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! ऐसा स्वाश्रय मुक्तिमार्ग बतानेवाले अरिहन्तों को हमारा नमस्कार हो।

स्वाश्रय की स्वीकृति के बिना मुक्तिमार्ग नहीं है।

मुक्ति अर्थात् पर के सम्बन्ध से रहित मात्र शुद्ध आत्मा। उसका उपाय पर के आश्रय से नहीं है। जिनका वीर्य अभी पराश्रय की श्रद्धा में रुका है, वे जीव मुक्ति के मार्ग का निर्णय नहीं कर सकते। तू मुक्ति की बात करता है या पर की? यदि मुक्ति की बात करता है, तो पराश्रय की श्रद्धा को छोड़। अरहन्तों ने पराश्रय नहीं किया है और पराश्रय को मोक्षमार्ग नहीं कहा है।

जगत को स्वाश्रय के मार्गदर्शक अरिहन्तों को श्रीकुन्दकुन्दाचार्य नमस्कार करते हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि 'णमोतेसि' उन अरिहन्तों को नमस्कार हो! अहो हो नाथ! आपने अपने आत्मा में तो स्वभाव का सम्पूर्ण आश्रय प्रगट करके पराश्रय भावों की धूल उड़ा दी, और अन्य जीवों के लिए आपके कथन में भी पराश्रय की धूल ही है। आपका दिव्य उपदेश जीवों को पराश्रय से छुड़ाता है। आचार्यदेव के अधिकांश स्वाश्रयभाव तो प्रगट हुआ है और पूर्ण स्वाश्रय प्रगट करने की तत्परता है, इससे स्वाश्रय मुक्तिमार्ग का प्रमोद आने से कहते हैं कि – अहो! जगत के जीवों को स्वाश्रय का उपदेश देनेवाले अरहन्तों! आपको नमस्कार हो! हे जिन भगवन्तों! आपको नमस्कार करता हूँ।

अज्ञानभाव से अनन्त प्रकार के पराश्रय में अज्ञानी परिभ्रमण करते हैं। अहो! जगत में इतने-इतने पराश्रयभाव हैं, उन सबसे छुड़ाकर आत्मा को एक अपने स्वभाव के आश्रय में ही लाकर स्थित कर दिया है। हे तीर्थङ्करों! आप स्वतः भी स्वभाव की श्रद्धा और स्थिरता करके ही मुक्त हुए हैं और अपनी वाणी में जगत के मुमुक्षुओं को भी इसी प्रकार का उपदेश किया है। अहो! अरिहन्तों! आपको नमस्कार, आपके स्वाश्रितमार्ग को नमस्कार। मेरा आत्मा स्वाश्रय की साक्षी देता हुआ आपके अप्रतिहत मार्ग में चला आ रहा है।

अरिहन्तों को नमन करनेवाले जीव कैसे होते हैं?

हे नाथ! हमें स्वाश्रय का उल्लास आता है। धन्य है प्रभु आपके कथन को! आपको हम नमस्कार करते हैं। हमारा आत्मा स्वाश्रय में नमन करता है, आपकी भाँति हम भी स्वाश्रयपूर्वक अरिहन्तदशा प्रगट करने के लिए आपके मार्ग का अनुसरण करते चले आ रहे हैं। अहो! ऐसा नमस्कार कौन करता है? किसे उल्लास होता है? जिसने अपने स्वभाव की श्रद्धा से स्वाश्रय की ओर उन्मुखता की है और पराश्रय के अंशमात्र का भी निषेध किया है, वह स्वाश्रय के उल्लास से अरहन्तों को नमस्कार करता है।

अरिहन्तों के पद चिह्नों पर

अहो अरिहन्तों! मैं आपके पद चिन्हों पर चला आ रहा है। सर्व अरिहन्तों को मेरा नमस्कार है। 'समस्त अरिहन्तों ने इस एक ही मार्ग से पूर्णता की है और उपदेश में भी उन्होंने ऐसा ही कहा है' ऐसा कहकर पश्चात उन सभी अरिहन्तों को आचार्यदेव ने नमस्कार किया है, इसमें आचार्यदेव की उच्च झन्कार है। 'उपदेश भी ऐसा ही किया है' ऐसा कहकर आचार्यदेव उपदेश देनेवाले अरिहन्तों की अर्थात् तीर्थंङ्करों की बात लेना चाहते हैं। तीर्थंङ्करों को केवलज्ञान प्रगट होने के पश्चात् नियम से दिव्यध्वनि छूटती है और उस दिव्यध्वनि द्वारा ऐसा ही स्वाश्रय के मार्ग का जगत के मुमुक्षुओं को उपदेश देते हैं। और उसे सुनकर स्वाश्रय करनेवाले जीव भी होते ही हैं। इस प्रकार संधि द्वारा स्वाश्रय मार्ग का अच्छिन्नप्रवाह बतलाया है।

मुक्त होने का उपाय

इस आत्मा का स्वभाव अरिहन्त जैसा ही है। अरिहन्त का द्रव्य एकरूप रहनेवाला सदृश्य (ध्रुव) तत्त्व पूर्णस्वभाव से है, वैसा ही अपना आत्मद्रव्य है। अरिहन्त समान अपने आत्मा को जाने बिना कोई जीव धर्म को प्राप्त नहीं कर सकता। त्रिकाल के समस्त तीर्थंङ्कर इसी उपाय के द्वारा मोह का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्त हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे।

अरिहन्तों ने क्या किया और क्या कहा?

इस अरिहन्त हुए हैं, उन आत्माओं ने प्रथम क्या किया? पहले तो उनके पर्याय में राग-द्वेष-मोह थे, किन्तु उन राग-द्वेष-मोह थे, किन्तु उन राग-द्वेष-मोह को अपना स्वरूप न मानकर, अरिहन्त के शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय को पहचानकर अपने आत्मा को भी वैसा ही जाना। अरिहन्त के आत्मद्रव्य और चैतन्य गुण तो निरन्तर एकरूप थे और उस स्वभाव के आश्रय से पूर्ण निर्मल पर्याय नवीन प्रगट की है; रागादि आत्मा का मूलस्वरूप नहीं था, इससे उसका नाश हो गया है।

अरिहन्त की भाँति अपना आत्मा भी द्रव्य से और गुण से तो इस समय भी परिपूर्ण एकरूप है, पर्याय में जो मोहभाव है, वह अपना स्वरूप नहीं है – ऐसी पहचान करके द्रव्य-गुण का आश्रय करने से पर्याय में से मोह दूर होता है और शुद्धता प्रगट होती है; इस प्रकार अरिहन्त होनेवाले सभी आत्माओं ने अरिहन्तदशा प्रगट होने से पूर्व जाना था। इसी रीति से प्रथम तो दर्शनमोह का नाश करके क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रगट किया था, और फिर स्वभाव के ही आश्रय से राग-द्वेष को दूर करके केवलज्ञान प्रगट करके अरिहन्त हुए थे; और अरिहन्त होने के पश्चात् जो सहज दिव्यध्वनि खिरी थी, उसमें इसी विधि से कर्मक्षय होने का उपदेश था।

आत्मा सम्पूर्ण ज्ञानस्वरूप है, उसमें शरीर नहीं है, मन नहीं है, वाणी नहीं है, कर्म नहीं है, राग-द्वेष और अपूर्णता नहीं है। जैसे अरिहन्त हैं, वैसा ही पूर्ण आत्मा का स्वभाव है; उस स्वभाव के आश्रय से ही धर्म है। पराश्रय की किसी भी वृत्ति में धर्म नहीं है। अरिहन्तों का आश्रय छोड़कर तथा अपने में भी द्रव्य-गुण-पर्याय के भेदों का आश्रय छोड़कर, एकरूप अभेद द्रव्य के आश्रय से श्रद्धा-ज्ञान करने से मिथ्यात्व का नाश होता है और उस अभेदस्वभाव में ही एकाग्रता करने से राग-द्वेष का नाश होता है। यही उपाय अनन्त तीर्थङ्करों ने स्वतः किया है और इसी उपाय का उपदेश दिया है।

एक ही विधि

देखो! यहाँ पर कुन्दकुन्द प्रभु, मोक्ष का उपाय बतलाते हैं और उसमें सर्व तीर्थङ्करों की साक्षी देते हैं। अपना आत्मा ज्ञान-दर्शन-आनन्दस्वरूप है, उसे लक्ष्य में लेकर उसी के आश्रय से शुद्धोपयोग प्रगट करके, भेद और व्यवहार का क्षय करके, अरिहन्त भगवान ने केवलज्ञान प्रगट किया है। त्रिकाल में मोह का क्षय करने की यह एक ही विधि है। तीर्थङ्करों ने इसी विधि का आश्रय लिया है, और यही विधि कही है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई विधि मोक्ष के लिए है ही नहीं।

'निश्चयस्वभाव का आश्रय' यह एक ही विधि भगवान ने की है और कही है।

'मैं शरीरादि की क्रिया का कर्ता हूँ अथवा पुण्य-पाप की क्रिया मेरी है'– इस प्रकार की (विकार के साथ के एकत्व की) मान्यता का स्वभाव के आश्रय से नाश करके और अपने स्वभाव में एकता करके समस्त तीर्थङ्कर केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं; और पश्चात् दिव्यध्वनि में अन्य जीवों को भी इसी प्रकार मार्ग दर्शाकर वे मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। तीर्थंङ्करों ने स्वतः निश्चयस्वभाव का आश्रय किया और व्यवहार के आश्रय को छोड़ा; दिव्यध्वनि में भी निश्चयरत्नत्रय का ही मोक्षमार्ग के रूप में उपदेश दिया और व्यवहार-रत्नत्रय वास्तविक मोक्षमार्ग नहीं है, किन्तु

बन्धमार्ग है – ऐसा उपदेश भगवान ने दिया। कोई तीर्थंङ्कर व्यवहाररत्नत्रय से केवलज्ञान को प्राप्त नहीं हुए; स्वभाव आश्रित निश्चयश्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से हो समस्त तीर्थंङ्कर केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं। यह एक ही प्रकार का मार्ग है। पुण्य-परिणाम, मोक्ष का कारण हो– ऐसा उपदेश भगवान ने नहीं दिया है। तथा ऐसे मार्ग का भी उपदेश नहीं किया कि पुण्य-परिणाम से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र होते हैं। मोक्षमार्ग की विधि एक ही है कि – अपने शुद्धात्मा को पहचानकर उसके आश्रय से मोह का क्षय करना। इससे विरुद्ध जितनी भी विधि है, वह मोक्षमार्ग नहीं किन्तु संसारमार्ग है।

भगवान ने उपदेश का सार है–'स्वभाव आश्रय करना'

जैसा केवलीभगवान का ज्ञानस्वभाव है, वैसा ही मेरा ज्ञानस्वभाव है – ऐसा निर्णय करके अपने ज्ञानस्वभाव का आश्रय करने से पर्याय में ज्ञान की अपूर्णता दूर होती है और पूर्णता प्रगट होती है। पर्याय की अपूर्णता, विकार के आश्रय से दूर नहीं होती। भगवान के उपदेश का सार क्या है? ''स्वभाव का आश्रय करना''। स्वभाव का आश्रय ही निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। स्वभाव के आश्रय का ही उपदेश भगवान ने किया है और सर्व पराश्रय को छुड़ाया है।

तीर्थंङ्करों का पथ

भगवन्तों ने स्वभाव के आश्रय से ही पूर्णता प्रगट की है और कर्मों का क्षय किया है। जिस विधि से अरिहन्त भगवन्तों ने स्वतः कर्मक्षय किया है, उसी प्रकार उपदेश भी किया है। आत्मस्वभाव के आश्रय से ही मुक्ति होती है और पर के आश्रय से मुक्ति नहीं होती–इस प्रकार सभी अरिहन्तों ने उपदेश किया है। यहाँ सिद्ध भगवान की बात न लेकर तीर्थंङ्कर – अरिहन्तों की बात ली है। तीर्थंङ्करों के नियम से दिव्यध्वनि होती है और उस दिव्यध्वनि में स्वाश्रय का उपदेश सुनकर अपने में स्वाश्रय प्रगट करके तीर्थंङ्करों के पथ पर चलने वाले जीव होते ही हैं। इस प्रकार वक्ता और श्रोता की सन्धि से बात है।

अरिहन्तों ने, उपदेशित स्वाश्रित मुक्तिमार्ग में व्यवहार का ज्ञान कराया है किन्तु उसका आश्रय छुड़ाया है

अरिहन्तों ने सम्पूर्ण मोह का क्षय करके केवलज्ञान प्रगट किया है, उनको उपदेशादि की कोई इच्छा नहीं होती, तथापि सहजरूप से दिव्यध्वनि में जगत के मुमुक्षुओं को ऐसा उपदेश किया है कि – हे जीवों! जैसा हमारा आत्मा है, वैसा ही तुम्हारे आत्मा का स्वभाव भी है। जैसे हमारे द्रव्य-गुण-पर्याय हैं, वैसे ही द्रव्य-गुण-पर्याय तुम्हारे आत्मा का स्वरूप है। इसके अतिरिक्त अन्य जो पराश्रित विकारी भाव हैं, वह तुम्हारा स्वरूप नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम भी

बाह्यलक्ष्य से होते हैं, वह बन्धमार्ग है। जो अपने स्वभाव के आश्रय से हो, वही मुक्तिमार्ग है। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, नवतत्त्व का ज्ञान तथा पंचमहाव्रत का पालन, सो व्यवहारचारित्र है, भगवान ने उसके आधार से मोक्षमार्ग नहीं कहा है। भगवान ने स्वतः भी वह व्यवहाररत्नत्रय छोड़कर पूर्णता प्रगट की है; कहीं व्यवहाररत्नत्रय के अबलम्बन से पूर्णता नहीं हुई है। भगवान के उपदेश में व्यवहार का स्वरूप तो बराबर बतलाया है, परन्तु उस व्यवहार के आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं कहा। मोक्षमार्ग तो निश्चयस्वभाव के आश्रय से ही है। व्यवहार के आश्रय से तो बंधमार्ग है। शुद्ध आत्मा की श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसमें पुण्य-पापरहित स्थिरता को ही भगवान ने मोक्षमार्ग कहा है और उसका उपदेश दिया है। निश्चय और व्यवहार-दोनों का स्वरूप बतलाकर भी, मोक्षमार्ग के रूप में तो निश्चय का ही उपदेश भगवान ने किया है, व्यवहार का नहीं; किन्तु उसका अवलम्बन छुड़ाने के लिए उसका ज्ञान कराया है। साधकदशा में बीच में शुभरागरूप व्यवहार आ जाता है, किन्तु वह मुक्तिमार्ग नहीं है– ऐसा भगवान ने कहा है। इस प्रकार भगवान ने स्वाश्रय का ही उपदेश किया है। अनन्त तीर्थंङ्करों के उपदेश का सार इस गाथा में है। स्वाश्रितभाव का उल्लास आने से आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! भगवन्तों ने ऐसा स्वाश्रित मुक्तिमार्ग दर्शाया, उन्हें नमस्कार हो।

अरिहन्तों का उपदेश समझनेवाला जीव उल्लास से नतमस्तक हो जाता है।

'अपना आत्मा अरिहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय जैसा है, इसलिए अपने को अरहन्त का आश्रय नहीं है, किन्तु अपने आत्मा का ही आश्रय है। प्रथम अरिहन्त का लक्ष्य होता है, किन्तु वह धर्म नहीं है, क्योंकि वह पराश्रय है। अरिहन्त का लक्ष्य छोड़कर अपने परिपूर्ण स्वभाव को अभेदरूप से लक्ष्य में लेना, सो स्वाश्रय है, वह धर्म है। हे जीव! तेरा आत्मा पूर्ण है, उसे जानकर उसके आश्रय से स्थिर हो – यही मुक्ति का मार्ग है – ऐसा उपदेश भगवान ने तब तक किया जब तक उनके अरिहन्त दशा थी। पश्चात् वाणी बन्द हो गई, योग का कम्पन दूर हो गया और भगवान निवृत्त हुए – सिद्ध हो गये। अहो, भगवन्तों! आपको नमस्कार हो, आपका पवित्र उपदेश हमारे अन्तरङ्ग में जम गया है और स्वाश्रय का अह्लाद उछल रहा है। प्रभो! हम और तो क्या कहें? नाथ! 'नमो भगद्भ्यः' भगवन्तों को नमस्कार हो। इस प्रकार अरिहन्तों का उपदेश समझनेवाला जीव, स्वाश्रय के उल्लास से भगवान को नमस्कार करता है।'

अरिहन्तों के पथ पर

किसी पुण्यभाव से अथवा निमित्तों के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन नहीं होता, किन्तु अपने

द्रव्य-गुण-पर्याय से अभेदस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है। हमें ऐसा पवित्र उपदेश करके स्वाश्रय का मार्ग दर्शाया है, उसके लिए हे नाथ! आपको हमारा नमस्कार हो। वर्तमान में शुभविकल्प है, किन्तु उस ओर न जाकर हम स्वभाव की महिमा की ओर उन्मुख हो रहे हैं। स्वभाव के आश्रय से धर्म की वृद्धि ही है। आपने जो दशा प्रगट की है, उसे हम नमस्कार करके राग-रहित चैतन्यस्वभाव का ही आश्रय और विनय करते हैं, विकल्प का आश्रय अथवा आदर नहीं करते। हे जिनेश! आपका उपदेश सुनकर हमें स्वभाव और परभाव का भेदज्ञान हुआ –हमें निश्चय स्वाश्रय रागरहित स्वभाव प्राप्त हुआ – इससे हम आपको नमस्कार करते हैं, आपके दर्शाये हुए मार्ग पर आ रहे हैं।

जिसने अपने आत्मा में स्वाश्रय का स्वीकार किया, उसने अनन्त तीर्थंकरों के मार्ग को अंगीकार किया है और जिसने किसी भी प्रकार से पराश्रय में (जड़ की क्रिया में, राग में, निमित्त के आश्रय में अथवा व्यवहार में) धर्म माना है, वह जीव अनन्त तीर्थंकरों के मार्ग का उल्लंघन करनेवाला है। सर्व तीर्थंकर स्वाश्रयभाव से ही कर्मों का नाश करके केवली हुए हैं और फिर उन्होंने उपदेश भी ऐसा ही किया है कि–स्वाश्रयभाव, सो धर्म है और पराश्रयभाव, सो अधर्म है। पुण्य भी पराश्रितभाव है, उसमें धर्म नहीं है। ऐसा होने पर भी जो जीव स्वाश्रय को अंगीकार नहीं करता और पुण्यादि से धर्म मानता है, वह जीव अनन्त तीर्थंकरों के उपदेश को नहीं मानता–वह अनन्त तीर्थंकरों का शत्रु, महा मिथ्यात्वी है। यदि निर्मल सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो तो वह आत्मा के आधार से प्रगट होता है, किसी पर के आश्रय से प्रगट नहीं होता। ऐसा समझकर जो जीव स्वाश्रय करे, वही जीव तीर्थंकरों के पथ पर चलनेवाला है।

टीका

अतीत काल में क्रमशः हो गये समस्त तीर्थंकर भगवान, प्रकारान्तर की असम्भवता होने के कारण जिसमें द्वैत संभव नहीं है–ऐसे, इसी एक प्रकार से कर्मांशों के क्षय का स्वतः अनुभव करके (तथा) परमाप्तपने के कारण भविष्यकाल में अथवा इस (वर्तमान)काल में अन्य मुमुक्षुओं को भी इसीप्रकार उसका (कर्मक्षय का) उपदेश करके, निःश्रेयस को प्राप्त हुए हैं, इसलिये निर्वाण का अन्य (कोई) मार्ग नहीं है–ऐसा निश्चित होता है। अथवा, प्रलाप से बस करो, हमारी मति व्यवस्थित हुई है। भगवन्तों को नमस्कार हो!

अच्छिन्न धर्मप्रवाह

गतकाल में क्रमशः एक के बाद एक अनन्त तीर्थंकर हो गये हैं। क्रमशः क्यों कहा? जैसे

संसार अनादि-अनन्त है, उसीप्रकार स्वभाव को समझकर मोक्ष जानेवाले जीवों का प्रवाह भी अनादि-अनन्त है। अनादि से एक के बाद एक तीर्थंकर होते चले आ रहे हैं और उनके निमित्त से स्वभाव को समझकर मोक्ष में जानेवाले जीव भी क्रमशः होते आ रहे हैं। तीर्थंकरों का और मोक्षगामी जीवों का सर्वथा अभाव कभी नहीं होता। इसप्रकार धर्म का अच्छिन्नप्रवाह अनादि-अनन्त है।

यहाँ पर मुख्यरूप से तीर्थंकरों की बात ली है। वाणीरहित-मूक केवली भगवन्तों की बात मुख्यरूप से नहीं है; क्योंकि तीर्थंकरों के नियम से दिव्यध्वनि होती है और उसके द्वारा स्वाश्रयस्वभाव को समझकर मोक्षगामी जीव भी होते हैं।

सभी तीर्थंकरों द्वारा कही गई मोक्ष की एक ही विधि

क्रमशः अनन्त तीर्थंकर हुए, अर्थात् अनन्त काल पूर्व हुए उन्होंने और इसीसमय हुए उन्होंने-सभी ने एक ही विधि का सेवन किया था। जो अनन्त काल पूर्व हुए उन्होंने दूसरी विधि और जो वर्तमान में हुए उन्होंने कोई अन्य विधि की थी—ऐसा नहीं है क्योंकि मोक्ष की विधि दो प्रकार की नहीं है, एक ही प्रकार की है। अभी तक जितने तीर्थंकर भगवान हो गये हैं उन सबने क्या विधि की थी और क्या उपदेश किया था? वह आचार्यदेव ने ८०-८१ वीं गाथा में बतलाया है। श्री आचार्यदेव स्वतः स्वाश्रय-स्वभाव की निःशंकता से सर्व तीर्थंकरों की साक्षी देते हैं कि मोक्ष का जो उपाय हमने दर्शाया है, वही उपाय सर्व तीर्थंकरों ने किया है और उसी का उपदेश समस्त तीर्थंकरों ने दिया है। मैं कोई नवीन उपाय नहीं बतला रहा हूँ, किन्तु अनन्त तीर्थंकरों ने जो किया और समवसरण में जो उपाय कह गये हैं, वही मैं भी कह रहा हूँ।

अरिहंत के समान अपने आत्मस्वभाव को जानकर और शुद्धोपयोग द्वारा उसी का आश्रय करने से मोह का क्षय होता है; इसप्रकार ८०-८१ गाथा में जो मोहक्षय का उपाय बतलाया है उसी के द्वारा मोह का क्षय होता है, अन्य प्रकार से मोह का क्षय नहीं होता। अनन्त तीर्थंकरों ने एक ही प्रकार से कर्मों का नाश किया है। 'किन्हीं तीर्थंकरों ने निश्चय के आश्रय से कर्म क्षय किया और किन्हीं ने व्यवहार के आश्रय से'—ऐसा नहीं है। मोक्ष का मार्ग द्वैतरूप नहीं किन्तु एक ही प्रकार का है।

एकान्त और अनेकान्त का स्वरूपः निश्चय और व्यवहार दोनों को मुक्ति का उपाय मानना, सो एकान्त है।

वर्तमान में पर्याय में अपूर्णता और अशुद्धता होने पर भी, उस पर्याय जितना सम्पूर्ण आत्मा

को न मानकर, ''अरिहन्त समान ही परिपूर्ण हूँ'' इस प्रकार अरिहन्त द्वारा अपने परिपूर्ण स्वभाव की प्रतीति करके और उसी में स्थिर होकर –इस एक ही प्रकार से समस्त तीर्थङ्करों ने कर्मों का क्षय किया है। यह 'एक ही उपाय है' इसी में अनेकान्त आ जाता है। स्वाश्रय ही उपाय है और पराश्रय उपाय नहीं है ऐसा अनेकान्त है। निश्चय ही उपाय है। शुद्ध उपयोग ही उपाय है और शुभ-अशुभ उपयोग उपाय नहीं है–ऐसा अनेकान्त है और व्यवहार उपाय नहीं है– ऐसा अनेकान्त है। किन्तु निश्चय, सो मुक्ति का उपाय है और व्यवहार भी मुक्ति का उपाय है स्वाश्रय भी मुक्ति का उपाय है और पराश्रय भी उपाय है, शुद्ध उपयोग उपाय है और अशुद्ध उपयोग भी उपाय है – ऐसा मानना सो एकान्त – मिथ्यात्व है। एक प्रकार है, दूसरा कोई प्रकार नहीं है, यही अनेकान्तस्वरूप है। आत्मस्वभाव से धर्म होता है और राग से भी धर्म होता है – ऐसी मान्यता में आत्मा और राग की एकत्वबुद्धि है, वह एकान्त है। मोक्ष की एक ही विधि है, दूसरी कोई विधि नहीं है। आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता से ही धर्म होता है, अन्य प्रकार से नहीं होता; निश्चयरत्नत्रय से ही धर्म होता है, व्यवहारनय रत्नत्रय से धर्म नहीं होता – इसी का नाम अनेकान्त है। निश्चयरत्नत्रय से धर्म होता है और व्यवहाररत्नत्रय से भी धर्म होता है – ऐसी मान्यता में निश्चय व्यवहार की एकत्वबुद्धि है, वह एकान्त है। निमित्तों के आश्रय से धर्म होता है–ऐसा जो मानता है, उसे स्वपर में एकत्वबुद्धिरूप एकान्त है। अपने स्वभाव में पुण्य-पाप की नास्ति है। यदि पुण्य-पाप क्रिया की अपने स्वरूप में नास्ति न माने तो मिथ्यात्व है। जो पुण्य-पाप से आत्मा को लाभ मानता है, उसने विकार को और आत्मा को एक माना है, उसे अरिहन्त समान अपने आत्मा की श्रद्धा नहीं है, वह अरिहन्तों के मार्ग पर चलनेवाला नहीं है।

प्रथम या पश्चात् कभी भी शुभराग से धर्म नहीं होता

भले ही सम्यग्दर्शन होने से प्रथम सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की ओर का शुभराग होता है, किन्तु उससे सम्यग्दर्शन नहीं होता। जब देव-गुरु-शास्त्र का और राग का अवलम्बन छोड़कर अपने चैतन्य-स्वभाव का अवलम्बन (श्रद्धा-ज्ञान) करे, तभी सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् पूर्ण वीतरागचारित्र होने से पूर्व जो शुभराग होता है, वह भी चारित्र धर्म का कारण नहीं है। जो स्वभावाश्रित शुद्ध उपयोग है, वही चारित्र-धर्म है। इसी एक प्रकार से अनन्त तीर्थंङ्कर भगवन्तों ने कर्मों का क्षय किया है। स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता एक ही प्रकार का मोक्ष-मार्ग है। इस प्रकार से तीर्थंङ्करों ने समस्त कर्मों का क्षय करके शुद्धात्म-स्वरूप का स्वतः अनुभव किया है। ऐसे तीर्थंङ्कर सर्वज्ञ और वीतराग होने से आप्त हैं, जगत के जीवों को आत्महित के उपदेष्टा हैं। तीर्थंङ्करों का उपदेश परम विश्वास योग्य है। तीर्थंङ्करों ने क्या उपदेश किया?

तीर्थङ्करों द्वारा उपदेशित त्रिकाल के सर्व मुमुक्षुओं को एक ही उपाय

भगवान के श्रीमुख से ऐसी वाणी निकली है कि हम जो उपदेश कर रहे हैं, उसी प्रकार से इस काल के अथवा भविष्य काल के मुमुक्षु जीवों को मोक्ष का उपाय है। भगवान ने ऐसा नहीं कहा कि भविष्य में पंचमकाल कठिन आयेगा, इसलिए उस काल का उपाय भिन्न है। भगवान का उपदेश भविष्यकाल के जीवों को भी एक ही प्रकार का है, धर्म का अन्य कोई मार्ग है ही नहीं। आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता, यह एक ही उपाय तीनकाल और तीनलोक के मुमुक्षु जीवों के लिए हैं।

त्रिकाल के अरिहन्तों का उपदेश एक ही प्रकार का है कि – स्वाश्रय से धर्म है। भूतकाल में भगवान मोक्ष को प्राप्त हुए, वे सब इसी विधि से प्राप्त हुए हैं और अरिहन्तदशा में उन्होंने उस काल में प्रत्यक्ष श्रवण करनेवाले जीवों को इसी मोक्षमार्ग का उपदेश दिया है, उसी प्रकार भविष्यकाल के मुमुक्षुओं के लिए भी यही एक उपाय स्थापित किया है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का परिवर्तन होनेपर कहीं धर्म का स्वरूप नहीं बदल जाता। आत्मा का स्वभाव सदा एकरूप है और उस स्वभाव के आश्रय से ही सदा मोक्षमार्ग है, इससे मोक्ष का मार्ग सदा एक ही प्रकार का है। जैसे मिष्टान्न राजा-महाराजाओं के यहाँ बने या निर्धन के यहाँ बने किन्तु घी-शक्कर और आटा इन तीनों वस्तुओं से ही बनता है, परन्तु घी के बदले पानी आदि नहीं डालते। आज, भूतकाल में अथवा भविष्य में मिष्टान्न बनाने का एक ही उपाय है; वैसे ही अनन्तकाल पूर्व, वर्तमान में, अथवा अनन्तकाल पश्चात् सभी मुमुक्षु जीवों को मोक्ष का उपाय एक ही प्रकार का है। अपने शुद्ध आत्मस्वभाव की पहचान और उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। अरिहन्त भगवान स्वतः उस उपाय से धर्म को प्राप्त हुए और अन्य मुमुक्षुओं को उसी का उपदेश देकर सिद्ध हुए हैं। [अपूर्ण]

आत्मा का ज्ञान-स्वभाव

[श्री समयसार शास्त्र पर पूज्य श्री कानजीस्वामी का व्याख्यान]

''वस्तुस्वभाव पर के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकने के कारण, वैसे ही वस्तुस्वभाव पर को उत्पन्न नहीं कर सकनेवाला होने से; जिस प्रकार आत्मा बाह्य पदार्थों की असमीपता में अपने स्वरूप से ही जानता है, उसी प्रकार बाह्य पदार्थों की समीपता में भी अपने स्वरूप से ही जानता है।'' [गु. समयसार पृ. 442]

निकट की वस्तु का या दूर की वस्तु का आत्मा अपने स्वरूप से ही ज्ञाता है। इस निकट के शरीर से हरियाली आदि के काटने की जो क्रिया होती है उसे, वैसे ही दूर के (अन्य के) शरीर से जो हिंसादि की क्रिया होती है, उसका समानरूप से अपने स्वरूप से ज्ञाता है। और उसी प्रकार निकट के अर्थात् अपनी अवस्था में होनेवाले हिंसादि परिणामों को अथवा दूर के अर्थात् अन्य जीव में होनेवाले दया – हिंसादि परिणामों को भी आत्मा अपने स्वरूप से जाननेवाला है, निकट के रागादि को या दूर के रागादि को जानने में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता।

आत्मा अपने त्रैकालिक ज्ञान-स्वभाव के विश्वास से, जो निकट में (स्वतः में) रागादि हो उसे, अथवा दूर में अन्य जीवों में हो उसे, दोनों को समानरूप से ही जानता है, उसमें कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता। आत्मा निकट के या दूरवर्ती रागादि को अपने स्वरूप से ही प्रकाशित करता है। दूरवर्ती रागादि को जानने से ज्ञान में कहीं अन्तर नहीं पड़ता।

जैसे-दीपक निकटवर्ती या दूरवर्ती पदार्थों को अपने स्वरूप से ही प्रकाशित करता है, उसी प्रकार शुभ या अशुभ पदार्थों को समानरूप से ही प्रकाशित करता है। नीचे की अगेरी और ऊपर की अरगनी– इन दोनों को दीपक अपने प्रकाश से प्रकाशित करता है; उसी प्रकार दीपक के पास सोने का लाटा पड़ा हो या कोयला पड़ा हो – उन दोनों को दीपक अपने प्रकाश से प्रकाशित् करता है। सोने को प्रकाशित करने में दीपक का प्रकाश कहीं बढ़ नहीं जाता और कोयले को प्रकाशित करने में घटता नहीं है; दीपक अपने प्रकाशक स्वभाव से ही सबको प्रकाशित करता है। पर के कारण प्रकाशित नहीं करता। दीपक के निकट कोई पापादि करता हो अथवा उन्हें दूर करता हो किन्तु दीपक तो दोनों का प्रकाशक है।

उसी प्रकार यह आत्मा चैतन्य-दीपक है, वह अपने स्वरूप से त्रिकाल ज्ञाता है। उसके

निकट हरियाली की हिंसा हो अथवा दूर अन्य के शरीर से हरियाली काटने की क्रिया हो, उसे अपने स्वरूप से जानता है। वैसे ही अपने में राग हो या दूसरे में राग हो,, वह दोनों का अपने स्वरूप से ही प्रकाशक है। पर्याय में पुरुषार्थ की निर्बलता से राग होता है– यह बात यहाँ गौण है। पर्याय की निर्बलता गौण होने से और त्रैकालिक ज्ञानस्वभाव की अधिकता होने से ज्ञान तो दूर के अथवा निकट के रागादि का प्रकाशक ही है। राग को जानता है – ऐसा कहना भी व्यवहार है। ज्ञान अपने को जानता है, वह निश्चय है। अपनी अवस्था में होनेवाले रागादि भाव निकट के हैं और अन्य जीव की अवस्था में होनेवाले रागादि भाव दूरवर्ती हैं; उन दोनों का आत्मा अपने ज्ञान से व्यवहार से ज्ञाता है।

मैं एक समय में पूर्णानन्द, पूर्णब्रह्म, पूर्णज्ञान हूँ– ऐसे परिपूर्ण स्वभाव की श्रद्धा में शुभ या अशुभ भावों का आत्मा अपने स्वभाव से ज्ञाता है। जीव को बचाने के दयादि भाव अथवा हरियाली काटने के हिंसादि भाव– उन्हें आत्मा अपने से जानता है। दोनों को जानने में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता। वैसे ही निकट के शरीर की क्रिया या दूर के शरीर की क्रिया, उसे आत्मा अपने स्वभाव से प्रकाशित कर रहा है। ऐसे नित्य प्रकाशक स्वभाव का विश्वास होने से निकट या दूर के रागादि को जानने से आत्मा में कुछ भी हानि नहीं होती और ऐसे प्रकाशक स्वभाव का विश्वास हटने से आत्मा में कुछ भी धर्म नहीं रहता।

प्रशंसा के शब्द या निन्दा के शब्दादि पाँचों इन्द्रियों के शुभ या अशुभ विषय राग-द्वेष के कारण नहीं हैं, उन्हें जीव अपने स्वरूप से जानता है। वैसे ही हरियाली काटने की अथवा झाड़ू से बुहराने की शुभाशुभ क्रिया निकट हो अथवा दूर हो – उसे अपने स्वभाव से जानता है। और निकट के अथवा दूर के राग का भी, नित्य ज्ञान-ज्योति स्वभाव के स्वीकार से आत्मा ज्ञाता ही है। ऐसे ज्ञानस्वभाव का विश्वास, सो धर्म है।

कहीं दूर-अन्य के शरीर को कोई काट रहा हो या निकट में अपने शरीर को कोई काट रहा हो – उन दोनों का आत्मा अपने स्वभाव से प्रकाशक है। इस सुकुमार मुनि के शरीर को सियालनी खाये जाती है उसका, अथवा अन्य के शरीर को खा जाये, उन दोनों का एक समान स्वभाव से मुनि का आत्मा प्रकाशक है। जिस प्रकार अन्य का शरीर कटे उसे जानते हैं, उसी प्रकार अपना (निकट का) शरीर कटे, उसे भी जानते हैं। चैतन्य के प्रकाश में निकट या दूर जो कुछ होता है, उसे अपने स्वभाव से प्रकाशित करते हैं। निश्चय से अपने स्वभाव से स्वतः को ही प्रकाशित करते हैं, और व्यवहार से पर को प्रकाशित करते हैं।

भगवान की दिव्यध्वनि यहाँ खिरती हो अथवा दूर महाविदेहक्षेत्र में खिर रही हो, उस

निकट को या दूर को आत्मा अपने स्वरूप से ही जानता है। कसाई यहाँ निकट में सामने जीवहिंसा कर रहा हो अथवा दूर करता हो, किन्तु आत्मा अपने स्वभाव के आश्रय से उसका ज्ञाता है। पर का ज्ञाता भी व्यवहार से है; वास्तव में आत्मा जड़ की - शरीर की क्रिया का करनेवाला अथवा टालनेवाला नहीं है, वैसे ही राग का उत्पादक या संहारक भी वास्तव में नहीं है और राग का ज्ञाता भी परमार्थ से नहीं है। अपने ज्ञानस्वभाव से अपने स्वभाव का ही ज्ञाता है – यह निश्चय है।

इस शरीर में कैन्सर रोग हो या अन्य के शरीर में हो, दोनों को जानने में कुछ अन्तर नहीं है, आत्मा दोनों को अपने ज्ञानस्वभाव से प्रकाशित करता है। क्षणिक राग या द्वेष हो, वह शरीर के कैन्सर को जानने के कारण नहीं हुआ। आत्मा एक समय की पर्याय जितना नहीं है। यहाँ पर्याय की गौण करके बात है। अज्ञानी जीव क्षणिक राग के विश्वास से त्रैकालिक ज्ञातास्वरूप को भूलता है। ज्ञानी त्रिकालस्थायी वस्तु –ज्ञानस्वभाव के विश्वास से क्षणिक होनेवाले रागादि को अस्थायी करके स्वभाव के विश्वास से सबका ज्ञाता है।

यह तो आत्मस्वभाव की भावना है, स्वभाव की भावना में पुनरुक्तिदोष नहीं होता। जैसे चौंसठपुटी पीपर तैयार करने के लिए, लगातार चौंसठपुटों तक लेंडीपीपर को घोंटते ही रहते हैं, उसमें एकबार घोंटकर दूसरी बार घोंटने से कहीं पुनरुक्ति जैसा दोष नहीं लगता; वैसे ही बारम्बार आत्मस्वभाव की भावना करने से कहीं दोष नहीं लगता। अन्त में केवलज्ञान होने तक स्वभाव की भावना होती है, बीच में विश्राम नहीं होता – रुकना नहीं होता। इसलिए यह ज्ञानस्वभाव का बात पुनः–पुनः कही जाती है, उसमें पुनरुक्तिदोष नहीं है।

दीपक के समीप कोई सोने का लोटा रख दे तो उससे कहीं दीपक का प्रकाश बढ़ नहीं जाता और कोई कोयले का ढ़ेर रख दे तो कहीं दीपक का प्रकाश कम नहीं हो जाता। दीपक तो अपने स्वभाव से ही सबका प्रकाशक है। सोने की ओर दीपक का प्रकाश अधिक हो और कोयले की ओर कम हो, ऐसा नहीं है। शुभ हो या अशुभ, निकट हो या दूर, किन्तु दीपक सभी को समानरूप से अपने स्वरूप से ही प्रकाशित करता है, उसी प्रकार यह भगवान आत्मा चैतन्यज्योति है, प्रत्येक आत्मा चैतन्यज्योति है, वह अपने स्वरूप से प्रकाशमान है। आत्मा पर-पदार्थों के कारण नहीं जानता। स्वतः अपने स्वरूप को जानने से पर-पदार्थ भी ज्ञात होते हैं– ऐसा स्व-परप्रकाशक अपना स्वभाव ही है। समीप में हिंसादिभाव होते हों या दयादिभाव होते हों, उन दोनों का अपने चैतन्य के आश्रय से आत्मा ज्ञाता ही है। जैसे परजीव के रागादि को जानता है, वैसे ही अपनी अवस्था में होनेवाले रागादि भी वास्तव में पर-वस्तु हैं, – उनका भी पर की भाँति ज्ञाता ही है। रागादि को जानने से अपने स्वभाव का आश्रय छोड़कर नहीं जानता किन्तु स्वभाव का

आश्रय रखकर जानता है। जैसे–अन्य का शरीर परपदार्थ है, उसी-प्रकार यह निकट का शरीर भी परपदार्थ है। दूसरे के शरीर के टुकड़े होते हों अथवा अपने शरीर के, उन दोनों को आत्मा अपने चैतन्यप्रकाश से प्रकाशित करता है। इसमें मात्र वीतरागदृष्टि है। ज्ञानी के राग-द्वेष होते हैं, यह बात ही नहीं है, क्योंकि त्रैकालिक चैतन्यस्वभाव के आश्रय में रहकर, निकट के या दूर के राग-द्वेष को वह अपने स्वरूप से ही प्रकाशित करता है। निकट के रागादि को जानने से कहीं चैतन्यप्रकाश में फेरफार नहीं होता। रागादि को जानने से चैतन्यप्रकाश में परिवर्तन होना मानना, सो अज्ञान है और उसका फल संसार है।

वास्तव में ज्ञातास्वभाव को कोई वस्तु शुभ या अशुभ नहीं है, वैसे ही कोई वस्तु अनुकूल या प्रतिकूल नहीं है। लोगों में निन्दा को अशुभ और प्रशन्सा को शुभ कहा जाता है। साता को अनुकूल और रोगादि का प्रतिकूल कहा जाता है। उन सबको ज्ञान अपने स्वरूप से जानता है। पर को जानने में अपने स्वभाव का आश्रय नहीं छोड़ता। जिसे ऐसे ज्ञानप्रकाश स्वभाव की श्रद्धा हो, उस जीव के मधु, माँस, मदिरा का त्याग होता है। हरियाली काटने के परिणाम हो सकते हें। हरियाली काटने के परिणाम को अथवा दया पालने के परिणाम को ज्ञान जानता ही है। युद्ध में हजारों का संहार हो रहा हो, उसे जाने अथवा झाड़ू से झाड़ने की क्रिया होती हो उसे जाने – उन दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं है। ज्ञान तो अपने स्वभाव का ही आश्रय रखकर अपने स्वरूप से ही जानता है।

जैसे अनुकूलता को – उसी प्रकार प्रतिकूलता को भी स्वभाव के आश्रय से जानता ही है। जैसे–दूसरे के शरीर में कुष्ठरोग हो उसका ज्ञाता है, उसी प्रकार अपने निकट–अपने शरीर में कुष्ठरोग हो और अंगुलियाँ गल-गलकर गिर जायें – उस समय उसका भी ज्ञाता है।

दूसरे की आँख फूट जाये अथवा अपनी – उसमें कुछ भी अन्तर नहीं है, उसका ज्ञाता आत्मा स्वरूप से ही है। ऐसे त्रिकाल चैतन्य-स्वरूप की श्रद्धा में – प्रतीति में – विश्वास में रागादि की समीपता अथवा दुराव से धर्म या अधर्म नहीं है। रागादि हों, उसे भी ज्ञान जानता है, और रागादि दूर हों उसे भी ज्ञान जानता है; ज्ञान उसका कर्ता या हर्ता नहीं है, और वास्तव में परमार्थ से तो ज्ञान रागादि को जानता भी नहीं है, क्योंकि यदि वास्तव में रागादि को जाने तो वह राग में तन्मय हो जाये।

मैं अपना ज्ञाता हूँ, ऐसी श्रद्धा में वर्तमान पर्याय त्रैकालिक चैतन्यस्वभाव का आदर करती है, त्रैकालिकस्वभाव के आश्रय से वह जानता ही है, उसमें उसे पुण्य-पाप की सहायता नहीं है, वैसे ही पुण्य-पाप से विघ्न भी नहीं है। त्रैकालिकस्वभाव का आश्रय करके ज्ञान जानता है; उसके

पर्याय में पुण्य-पाप हो तो विरोध नहीं है और पुण्य-पाप दूर हो तो सहायता नहीं है, मात्र स्वभावदृष्टि है। मात्र स्वभावदृष्टि रखकर पुण्य-पाप हो उसे, अथवा पुण्य-पाप दूर हो, उसे ज्ञानी जानते ही हैं; उसको जानने पर भी ज्ञान ध्रुवस्वभाव का आश्रय नहीं छोड़ता।

पर्याय एकसमय पर्यंत की है, उत्पन्नध्वंसी है। त्रिकाल चैतन्यस्वभाव ध्रुव है। ज्ञान एकसमय की पर्याय का आश्रय करके नहीं जानता किन्तु त्रिकाल का आश्रय करके जानता है। जहाँ वर्तमान में प्रवर्तमान दृष्टि त्रैकालिक स्वभाव का आश्रय लेती है, वहाँ पर में समीप या दूरवर्ती किसे कहा जाये? दृष्टि स्वभावोन्मुख हुई, वहाँ पुण्य-पाप के साथ भी कुछ सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि दृष्टि ने तो त्रैकालिक वस्तु का आश्रय किया है और त्रैकालिक वस्तु में पुण्य-पाप नहीं हैं। अपने नित्य प्रकाशक स्वभाव की दृष्टि हुई, वहाँ निकट के या दूर के पुण्य-पाप के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है, उसे आत्मा जानता है, वह भी व्यवहार है। ऐसी श्रद्धा-प्रतीतिपूर्वक त्रैकालिक चैतन्य की ओर के बल में आत्मा अपने स्वरूप से ही प्रकाशित होता है। ऐसा वस्तुस्वभाव पर के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता और वह स्वभाव पर में कुछ नहीं करता।

पूर्णस्वभाव की प्रतीति में सम्पूर्ण चैतन्य प्रकाशित होता है, चैतन्य अपने स्वरूप से ही प्रकाशित होता है, उसे परिवर्तित करने में कोई समर्थ नहीं है। त्रैकालिक स्वभाव की प्रतीति होने पर भी अवस्था में जो अल्प रागादि हो तो उसे भी अपने चैतन्यस्वरूप से जानता ही है। जो राग हुआ है, वह किन्हीं शुभ या अशुभ पर-पदार्थों के कारण नहीं हुआ, अवस्था की निर्बलता से हुआ है, वह निर्बलता एक समयपर्यंत की है त्रैकालिक स्वभाव में नहीं है – इस प्रकार मात्र त्रैकालिक स्वभाव के आश्रय से ही कार्य होता रहता है।

कोई कहे कि ऐसी प्रतीति का पालन होना कठिन है, तो वह इस बात को नहीं समझा है। एक-समय में पूर्ण स्वभाव है, उसी का आदर है और अपूर्णता का या विकार का आदर नहीं है। विकार होता है,उसकी गौणता तथा विकार से स्वभाव की अधिकता रखकर स्वभाव के आश्रय से श्रद्धा-ज्ञान हुए और अज्ञान दूर हुआ – वही प्रतीति का पालन है। जिसे ऐसी प्रतीति हुई, उसके प्रतिसमय स्वभाव की अधिकता है और रागादि की गौणता है – वही प्रतीति का आचरण है।

वर्तमान में प्रवर्तमान अवस्थन पूर्ण की प्रतीति और आश्रय करे वह धर्म है। त्रैकालिक एकरूप चैतन्यस्वभावरूप हूँ और विकाररूप नहीं हूँ – इस प्रकार त्रिकाल का विश्वास न करे और क्षणिक का विश्वास करे तो उस जीव के धर्म दृष्टि नहीं होती।

आत्मा अपने स्वरूप से ही जानता है, रागादि से नहीं जानता; उसी प्रकार अपने स्वरूप से च्युत होकर मात्र रागादि को जाने वैसा भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। अपने स्वभाव का ज्ञान

रखकर रागादि को भी जानता है अर्थात् रागादि को जानने में भी स्वभाव की अधिकता रहती है– यह सम्यग्ज्ञान है। अज्ञानी जीव त्रिकाली पदार्थ को अस्पर्श्य करके क्षणिक पदार्थ का स्पर्श करते हैं, त्रिकाली का विश्वास छोड़कर क्षणिक का विश्वास करते हैं – यह अधर्म है। और ज्ञानी एक समय जितने क्षणिक भाव को अस्पर्श्य करके तथा त्रिकाली स्वभाव का स्पर्श करके उसके आश्रय से स्वपर को प्रकाशित करते हैं। त्रैकालिक द्रव्य के विश्वास से क्षणिक को गौण करते हैं। लोकव्यवहार में भी कहा जाता है कि – 'विश्वास से नाव तरती है' वह तो बाह्य की बात है, किन्तु आत्मा के त्रैकालिक स्वभाव के विश्वास से नौका तैरती है, त्रैकालिक स्वभाव के विश्वास से पर्याय पूर्ण होकर संसार-समुद्र से पार होकर मुक्त होते हैं।

त्रिकाल ज्ञातास्वभाव है; ऐसे स्वभाव की श्रद्धा होने से पर्याय में राग की मन्दता तो होती ही है, किन्तु राग की मन्दता होती है, वह यहाँ स्थापित नहीं करता है, क्योंकि वह क्षणिक पर्याय है, उसके आधार से आत्मा नहीं जानता। त्रिकाल के आधार से रागादि की मन्दता को जानता है। शरीर की क्रिया हो या रागादि हो – उन्हें जानने से चैतन्य के प्रकाश में अन्तर नहीं पड़ता, (क्योंकि ज्ञान सदैव अपने स्वभाव से ही प्रकाशमान है।) किन्तु उन रागादि को जानने से जीव ऐसा माने कि 'यह रागादि मैं करता हूँ' तो उस मान्यता से चैतन्यप्रकाश की श्रद्धा नहीं रहती।

सम्पूर्ण आत्मा को माने तो धर्म हो, या क्षणिक विकार जितना ही आत्मा को मानने से धर्म होता है? यदि क्षणिक को ही मानेगा, तो उसके आश्रय से धर्म नहीं होगा। मैं त्रैकालिक चैतन्य हूँ, क्षणिक नहीं – ऐसी प्रतीति से त्रिकाल के आधार से धर्म होता है। यह क्षणिक रागादि ही हूँ और त्रिकाली नहीं – ऐसी क्षणिक की प्रतीति, सो अधर्म है। आत्मा पर का कुछ हीं करता, और स्वभाव का आश्रय छोड़कर पर को जाने – वैसा भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। पूर्ण-स्वभाव को जानना, सो परमार्थ है और पूर्णस्वभाव के ज्ञानसहित राग को जानना, सो व्यवहार है; राग दूर हो – उसे जानना भी व्यवहार है। राग को आत्मा दूर करता है – यह भी व्यवहार है। राग हो, राग दूर हो और राग को जाने – यह तीनों व्यवहार हैं।

आत्मा अपने स्वभाव से ही जानता है, और ज्ञेयपदार्थ, उनके अपने स्वभाव से ही विचित्र परिणति प्राप्त करते हैं। ''अपने स्वरूप से ही ज्ञाता– ऐसे आत्मा को, वस्तुस्वभाव से ही विचित्र परिणति को प्राप्त होनेवाले अच्छे या बुरे शब्दादि बाह्य पदार्थ किंचित् विक्रिया उत्पन्न नहीं करते।'' प्रत्येक रजकण स्वतन्त्र स्वभाव से विचित्र परिणति प्राप्त करता है, ज्ञान उसमें कुछ नहीं करता और उन विचित्र परिणतिवाले पदार्थों को जानने से कहीं वे पदार्थ ज्ञान में विकार नहीं करते।

क्योंकि ज्ञान, पदार्थों के कारण नहीं जानता किन्तु अपने स्वरूप से ही जानता है।

एक केवली भगवान निकट विचर रहे हों और दूसरे केवली दूर हों, एक सन्त-मुनिराज के पास भाषा का परिणमन होता हो कि 'प्रत्येक आत्मा परिपूर्ण परमेश्वर है' और दूसरे सन्त-मुनि मौन हों, एक ज्ञानी-धर्मात्मा आत्मा के सत्यस्वरूप की स्थापना करते हों और दूसरे अज्ञानी जीव ''आत्मा एकान्त क्षणिक है'' – इस प्रकार महान असत्य की स्थापना करते हों –ऐसी विचित्र परिणतियाँ होती हैं, वे वस्तु स्वभाव से ही होती हैं; समस्त पदार्थ स्वतन्त्ररूप अपने-अपने स्वभाव से ही परिणति को प्राप्त होते हैं, उन सभी सुन्दर या कुरूप पदार्थों को जीव अपने ज्ञानप्रकाश से जानता है, किन्तु वे पदार्थ ज्ञान में विक्रिया नहीं करते। और ज्ञान अपने स्वरूप से ही जानता है, इससे उसमें भी विक्रिया–विकार नहीं होता। विचित्र परिणति हो –ऐसा वस्तु का स्वभाव ही है। द्रव्य की स्थिति एकरूप हो, किन्तु पर्याय में तो विचित्रता ही होती है। ज्ञान के कारण पदार्थों में विचित्र परिणति नहीं होती, किन्तु वह पदार्थों का उस काल का उस अवस्था का वैसा स्वभाव ही है और पदार्थों में विचित्र परिणति होती है – उसे ज्ञान उसके कारण से जानता है – ऐसा भी नहीं है। ज्ञान अपने स्वभाव के आश्रय से, अपने स्वरूप से उसे जानता है। ऐसी स्पष्ट बात है, तथापि अज्ञानीजन ऐसा मानते हैं कि निमित्त से होता है।

इस शरीर के टुकड़े हो जायें या यथावत् रहे – वह उसके स्वभाव से ही है। शरीर के टुकड़े हों, वह परमाणुओं की विचित्र परिणति है, सामनेवाले जीव के द्वेष के कारण या तलवार के कारण शरीर नहीं कटा है; उसी प्रकार तलवार की क्रिया तलवार की विचित्र परिणति हुई है, किसी ने द्वेष किया, उसके कारण तलवार की क्रिया नहीं हुई है। समस्त पदार्थ अपने स्वभाव से विचित्र परिणति वाले हैं, ज्ञान अपने स्वभाव में रहकर उन्हें जानता है। विचित्र परिणति को जानने के कारण राग-द्वेष नहीं होते। ऐसे अपने ज्ञाता-स्वभाव की श्रद्धा हुई, वहाँ राग-द्वेष का भी परपदार्थों की भाँति ज्ञाता है।

यहाँ पदार्थों में शुभ और अशुभ – ऐसे दो भेद किये हैं। वे जिस प्रकार लोग मानते हैं, उसी अपेक्षा से हैं; वास्तव में पदार्थ शुभ या अशुभ नहीं है। केवलज्ञान पर्याय, सो शुभ; उसी प्रकार केवली का आत्मा और उनके गुण भी शुभ हैं और अज्ञानी जीव तथा उनके गुण अशुभ हैं – ऐसा कहा जाता है, किन्तु आत्मा का चैतन्यस्वभाव तो दोनों का ज्ञाता है, चैतन्यस्वभाव को कोई शुभ या अशुभ नहीं है, चैतन्यस्वभाव स्वतः अपने लिए शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपी है, बाह्य के किन्हीं भी शुभ या अशुभ पदार्थों से चैतन्य की शुद्धता में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता। शुभ-अशुभ पदार्थों को जानने के कारण राग-द्वेष नहीं होता। ऐसे अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करना, सो धर्म है।

मोह को क्षय करने का उपाय

[गतांक से आगे]

आचार्यदेव नास्ति से कथन करते हैं। मोह का नाश किया, सो नास्ति और यथार्थ आत्मस्वरूप को प्राप्त किया, सो अस्ति। उसके बाद राग-द्वेष को छोड़ना, सो नास्ति और शुद्धात्मा की प्राप्ति, सो अस्ति। जो शुद्धात्मा को जाना, उस ओर जितनी उन्मुखता हुई, उतना लाभ है; जितना पराश्रयभाव हो, उतना शुद्धोपयोग लुटता है। सम्यक्आत्मतत्व की प्राप्ति और मिथ्यात्व का नाश करने के पश्चात् शुद्धात्मस्वरूप में एकाग्रतारूप जो शुद्धभाव है, वही शुद्धात्मा का तत्त्व है। जितने पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे शुद्धात्मा का तत्त्व नहीं हैं; वे तो आत्मा के शुद्धोपयोग को लूटनेवाले हैं। पुण्य-पापरहित आत्मतत्त्व को प्राप्त करके यदि शुभ और अशुभ उपयोग को छोड़ देता है, तो वह जीव शुद्धात्मा को प्राप्त करता है। दर्शनमोह का नाश करके सम्पूर्ण आत्मा प्राप्त किया है, किन्तु अभी पर्याय में पूर्ण शुद्धता प्रगट नहीं हुई है। पूर्ण शुद्धदशा तो राग-द्वेष के नाश होने से होती है।

जो पूर्ण शुद्धदशा प्रगट हो, उसे यहाँ पर शुद्धात्मतत्त्व का अनुभव कहा है। अपूर्णदशा में कुछ अंशों में रागादि अशुद्धभावों का भी अनुभव होता है, इस अपेक्षा से वहाँ शुद्धात्मतत्त्व का अनुभव नहीं है - ऐसा कहा है। सम्यग्दर्शन होते ही सम्पूर्ण शुद्ध-आत्मस्वभाव तो प्राप्त हो गया है, किन्तु जहाँ तक जीव, राग-द्वेष को न छोड़े, वहाँ तक द्रव्य-गुण-पर्याय से शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं होता। मूल में तो आचार्यदेव ने अस्ति से ही बात की है कि यदि जीव, राग-द्वेष को छोड़ता है, तो शुद्धात्मा को प्राप्त होता है अर्थात् जिन्होंने अपने सम्यक्-आत्मस्वभाव को प्राप्त किया है—ऐसे जीव, राग-द्वेष को छोड़ते ही हैं और शुद्धात्मा को प्राप्त करते ही हैं।

टीका

''इस प्रकार जो उपाय का स्वरूप वर्णित किया है, उस उपाय द्वारा मोह को दूर करके सम्यक्-आत्मतत्त्व को प्राप्त करके भी, यदि जीव, राग-द्वेष को निर्मूल करता है, तो शुद्धआत्मा का अनुभव करता है।''

प्रथम सम्यग्दर्शन, पश्चात् सम्यग्चारित्र

प्रथम ८०वीं गाथा में दर्शनमोह के नाश का उपाय बतलाकर, अब चारित्रमोह के नाश का

उपाय बतलाते हैं। पहले मिथ्यात्व का नाश करने के पश्चात् ही चारित्रमोह का नाश होता है, इसलिए पहले दर्शनमोह के क्षय का उपाय बताने के पश्चात् चारित्रमोह के नाश का उपाय बतलाते हैं। मिथ्यात्व का नाश करके सम्यक्-आत्मतत्त्व की श्रद्धा प्रगट करके भी, यदि पर्याय में से शुद्धोपयोग द्वारा, राग-द्वेष को छोड़ता है, तभी जीव मुक्ति को प्राप्त करता है। राग-द्वेष में एकता मानने से धर्म नहीं होता और स्वभाव में एकता करने से धर्म होता है—इस प्रकार सम्यक्श्रद्धा करके भी जीव अपने उपयोग को स्वद्रव्य में ही लीन करता है, तभी वह शुद्ध-आत्मा के अनुभव को प्राप्त होता है।

जब शुद्धोपयोग करता है, तब शुद्धात्मा का अनुभव होता है।

यद्यपि शुद्धात्मा का अनुभव तो चौथे गुणस्थान या सम्यग्दर्शन होने से ही होता है, किन्तु वहाँ अभी सम्पूर्ण राग-द्वेष दूर नहीं हो गया है, इससे राग को अपना स्वरूप नहीं मानने पर भी, जितने राग-द्वेषादि अशुभभाव होते हैं, उतना अशुद्धता का भी अनुभव होता है; इसलिए वहाँ मात्र शुद्धात्मा का ही अनुभव नहीं है। किन्तु जब जीव सम्पूर्ण राग-द्वेष को दूर करके शुद्धोपयोग प्रगट करता है, तब द्रव्य-गुण-पर्याय से सम्पूर्ण शुद्ध आत्मा का ही अनुभव होता है – इसी को यहाँ शुद्धात्मा का अनुभव कहा है। पहले अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप जानकर उसी प्रकार अपने आत्मा की श्रद्धा की थी और अब अपना आत्मा साक्षात् वैसा ही हो गया। जैसे अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय हैं, वैसे ही अपने द्रव्य-गुण-पर्याय हो गये।

शुभ उपयोग चैतन्य को लूटनेवाला है।

अरिहन्त समान पवित्र अपने आत्मा की श्रद्धा होने के पश्चात् भी, राग-द्वेष दूर करे, तब शुद्धात्मा का अनुभव होता है। मैं चैतन्य-स्वरूप हूँ, राग-द्वेष मेरा स्वरूप नहीं है– ऐसी प्रतीति करने पर भी, यदि जीव फिर से शुभ या अशुभभावों में युक्त हो तो वह प्रमाद है; शुभभाव भी प्रमाद है। सम्यग्दर्शनपूर्वक मुनिदशा में जो पंचमहाव्रत की वृत्ति होती है, वह भी प्रमाद ही है, उस प्रमादतंत्र के आधीन होने से शुद्धात्मतत्त्व के स्वरूप के वेदनरूप चैतन्यचिन्तामणि की चोरी हो जाती है; इसलिए शुभभाव, चैतन्यचिन्तामणि के चोर हैं। तब फिर अशुभ वृत्तियों की तो बात ही क्या करना है? आचार्यदेव के वर्तमान काल में मुनिदशा तो प्रवर्तमान है, परन्तु जिससे केवलज्ञान प्रगट हो, वैसा शुद्धोपयोग नहीं है और अल्प शुभोपयोग रह जाता है, उसका अस्वीकार करके वे आचार्य सम्पूर्ण शुद्धोपयोग की भावना करते हैं। मुनिदशा में जो शुभवृत्ति उठती है, वह प्रमाद है– राग है – चोर है– शुद्धोपयोग को लूटती है। उस शुभ को दूर करके जब शुद्धोपयोग प्रगट

करता है, तभी मोह का सम्पूर्ण क्षय होकर पूर्णदशा प्रगट होती है। प्रथम सम्यग्दर्शन को स्थापित करने के पश्चात् की यह बात है।

शुभ उपयोग से जीव खेद पाता है।

प्रथम तो आचार्यदेव ने अस्ति से बात की हे कि–सम्यक् आत्मतत्त्व को प्राप्त करके जो जीव, राग-द्वेष को निर्मूल करता है, वह जीव शुद्धआत्मा का अनुभव करता है। परन्तु (अब नास्ति से बात करते हैं) यदि जीव पुनः पुनः उसका अनुसरण करता है– रागद्वेषरूप परिणमित होता है, तो प्रमाद–आधीनता के कारण शुद्धात्मतत्त्व के अनुभवरूप चैतन्यचिन्तामणि की चोरी हो जाने से अन्तरङ्ग में खेद का प्राप्त होता है।

सम्यग्दर्शन प्रगट होने के पश्चात् शुभवृत्ति उठती है, किन्तु वह केवलज्ञान का कारण नहीं है। शुभवृत्ति तो केवलज्ञान को रोकनेवाली है, जीव को खेद देनेवाली है। अरे! शुद्धात्मा की श्रद्धा-ज्ञान होकर स्वरूपस्थिरता प्रगट होने पर भी, यदि जीव पुनः पुनः शुभवृत्ति का अनुसरण करे तो शुद्धात्मा के अनुभवरूप चिन्तामणि की चोरी हो जाती है, और इससे अन्तर में पुनः खेद-खिन्न होता है। एकमात्र शुद्ध उपयोग ही को सुखदायक है, शुभ उपयोग दुःख है। छट्ठे गुणस्थान में शुभविकल्प उठते हैं, वह दुःख है, खेदकारक है। अहा! निर्विकल्प शुद्ध उपयोग दशा रुकती है, और शुभाशुभ उपयोग में लीनता होती है, वह खेद है, उससे निर्विकल्प शुद्धात्म-रमणता की चोरी हो जाती है। [अपूर्ण]

अहमदाबाद में श्रुतपंचमी का उत्सव

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन चतुर्विध सघ ने महान परमागम श्री षट्खण्डागम की पूजा महान उत्सवपूर्वक की थी; इससे यह दिन ''श्रुतपंचमी'' के पवित्र उत्सव के रूप में मनाया जाता है। इस वर्ष यह महामांगलिक प्रसंग अहमदाबाद के मुमुक्षुमण्डल ने प्रथमबार बड़ी धूमधाम के साथ मनाया था। इस दिन प्रातःकाल श्रुतपूजन होने के पश्चात् श्री जिनेन्द्रदेव और सत्शास्त्र की रथयात्रा अत्यन्त उल्लास एवं उत्साहपूर्वक गाजेबाजे के साथ निकली थी और रात्रि को आत्मसिद्धि की स्वाध्याय की गयी थी। रथयात्रा में तीनों सम्प्रदाय के कुल मिलकर एक हजार जितने भाईयों ने भाग लिया था। अहमदाबाद में पतासा की पोल में प्रतिदिन तत्त्वज्ञान का स्वाध्याय होता है।

धार्मिक दिवस

मुमुक्षुओं की सुविधा के लिए सोनगढ़ में प्रतिवर्ष जिस प्रकार धार्मिक दिवस मनाये जाते हैं, उसी प्रकार इस वर्ष भी ता. २१-८-४९ श्रावण कृष्णा १२ रविवार से ता. २८-८-४९ भाद्रपद शुक्ला ५ रविवार तक धार्मिक दिवस मनाये जायेंगे।

ता. २५-८-४९ भाद्रपद शुक्ला २ गुरुवार के दिन शाम को ५ बजे श्री जैन अतिथि सेवा समिति की वार्षिक मीटिंग होगी।

श्रावण और भादव मास के मंगल दिवस

श्रावण शुक्ला ६ रविवार :- श्री नेमिनाथ भगवान का जन्म और तप कल्याणक

श्रावण शुक्ला १५ सोमवार :- इस दिन श्री विष्णकुमार मुनि ने अंकपनाचार्यादि ७०० मुनिओं की घोर उपसर्ग से रक्षा की थी, इससे वह धर्म वात्सल्य का दिन है।

श्रावण कृष्णा ७ मंगलवार :- श्री शांतिनाथ भगवान का गर्भकल्याणक।

भाद्रपद शुक्ला ५ रविवार से कृष्णा १४ मंगलवार तक श्री दशलक्षण पर्व

भाद्रपद कृष्णा १- क्षमावाणी पर्व

अवश्य पढ़िये!

पूज्य श्री कानजीस्वामी द्वारा भगवत् श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत ग्रन्थों पर,
एवं अन्य अध्यात्मग्रन्थों पर किये गये विस्तृत विवेचन :-

समयसार-प्रवचन (प्रथम भाग)

निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा, पृष्ठ ४८८, पक्की जिल्द मूल्य छह रुपये, डाकव्यय दस आने अतिरिक्त।

मुक्ति का मार्ग

अरहन्तदेव का स्वरूप और सर्वज्ञसिद्धि पर युक्तिपूर्ण विवेचन ग्रन्थ। मूल्य दस आने, डाकव्यय माफ।

मूल में भूल

उपादान-निमित्त संवाद को लेकर अद्भुत विवेचनपूर्ण ग्रन्थ। मूल्य बारह आने, डाकव्यय माफ।

आत्मधर्म की फाइलें

प्रथम वर्ष-पृष्ठ 188, प्रवचन 200। द्वितीय वर्ष पृष्ठ 216, प्रवचन 108। तृतीय वर्ष पृष्ठ 250, प्रवचन 125। प्रत्येक वर्ष की सजिल्द फाइल का मूल्य पौने चार रुपये।

आत्मधर्म (मासिकपत्र)

अध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व संग्रह जो आपके हाथ में है। वार्षिक मूल्य तीन रूपये।

—: मिलने का पता :—

१- श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

२- अनेकान्त मुद्रणालय,
मोटा आंकड़िया (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचन्द रवाणी, शिष्टसाहित्य मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र
प्रकाशक : जमनादास माणेकचन्द रवाणी, अनेकान्त मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र